

निश्चय और व्यवहार मोक्ष-मार्ग

जैनागमकी व्यवस्था यह है कि प्रत्येक जीव अनादिकालसे संसारी बनकर ही रहता आया है। परन्तु संसार-प्राप्त संपूर्ण जीवोंमें बहुतसे ऐसे भी जीव हो गये हैं, जिन्होंने अनादिकालीन अपने उस संसारको समाप्त कर दिया है और उनमें आज भी बहुतसे ऐसे जीव हैं जो अपने अन्दर उस अनादिकालीन संसारको समाप्त करनेकी सामर्थ्य^१ छिपाये हुए हैं।

संसारकी परिसमाप्ति जीवके साथ अनादिकालसे ही सम्बद्ध ज्ञानावरणादि आठ द्रव्यकर्मों, शरीरादि नोकर्मों और इनके निमित्तसे जीवमें उत्पन्न होनेवाले भावकर्मोंका समूल क्षय हो जानेपर हुआ करती है। इस तरह कहना चाहिये कि उक्त संपूर्ण कर्मोंके समूल क्षय हो जाने अथवा यों कहिये, कि उक्त संपूर्ण कर्मोंसे जीव द्वारा सर्वथा छुटकारा पा जानेका नाम मोक्ष जानना चाहिये।^२

जैनागममें यह भी बतलाया गया है कि जीवोंको मोक्षकी प्राप्ति सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्रकी उपलब्धि हो जानेपर ही संभव है^३ अतः वहाँपर यह और बतलाया गया है कि उक्त सम्यग्दर्शन आदि तीनोंका समाहार ही मोक्षका मार्ग है।^४ चूँकि मोक्षमार्गस्वरूप उक्त सम्यग्दर्शनादिक तीनों निश्चय तथा व्यवहारके भेदसे दो-दो भेद रूप होते हैं अतः इस आधारपर मोक्षमार्गको भी निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्ष-मार्गके रूपमें दो भेद रूप जान लेना चाहिये।^५

इससे यह सिद्धान्त फलित होता है कि जीवको मोक्षकी प्राप्ति व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्ररूप व्यवहारमोक्षमार्ग तथा निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चय-सम्यक्चारित्ररूप निश्चयमोक्षमार्ग दोनोंका अवलम्बन प्राप्त होनेपर ही होती है।^६ इतना अवश्य है कि निश्चयसम्यग्दर्शनादिरूप निश्चयमोक्षमार्ग तो मोक्षका साक्षात् कारण होता है और व्यवहारसम्यग्दर्शनादिरूप व्यवहारमोक्षमार्ग उसका परंपरया अर्थात् निश्चयमोक्षमार्गका कारण होकर कारण होता है।^७

श्रद्धेय पंडितप्रवर दौलतरामजीने छहढालाकी तीसरी ढालके प्रारम्भमें इस विषयपर संक्षेपसे बहुत ही सुन्दर प्रकाश डाला है और वह निम्न प्रकार है—

१. आप्तमीमांसा, श्लोक १००। जीवभव्याभव्यत्वानि च। तत्त्वार्थसूत्र २-७।
२. बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः।—तत्त्वार्थसूत्र, १०-२।
३. समयसार, गाथा १७, १८।
४. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।—तत्त्वार्थसूत्र १-१। पंचास्तिकाय, गाथा १०६।
५. पंचास्तिकाय, गाथा १६०, १६१।
६. निश्चयव्यवहारमोक्षकारणे सति मोक्ष-कार्यं सम्भवति।—पंचा० का० गा० १०६ की टीका, आ० जयसेन।
७. निश्चयव्यवहारयोः साध्यसाधनभावत्वात्।—पंचास्तिकाय, गाथा १६०, टीका, आचार्य अमृतचन्द्र।
निश्चयमोक्षमार्गसाधनभावेन पूर्वोद्दिष्टव्यवहारमोक्षमार्गनिर्देशोऽयम्।
—पंचास्तिकाय, गा० १६२, टीका, आचार्य अमृतचन्द्र।
व्यवहारमोक्षमार्गसाध्यभावेन निश्चयमोक्षमार्गोपन्यासोऽयम्।
—पंचास्तिकाय गाथा १६३ की टीका, आचार्य अमृतचन्द्र।
साधको व्यवहारमोक्षमार्गः साध्यो निश्चयमोक्षमार्गः।—परमात्मप्रकाश-टीका, पृष्ठ १४२।

“आत्मको हित है सुख सो सुख आकुलता-बिन कहिये ।
आकुलता शिव माहि न तातें शिवमग लाग्यौ चाहिये ॥
सम्यग्दर्शन ज्ञान चरण शिवमग, सो दुविध विचारौ ।
जो सत्यारथ रूप मो निश्चय, कारण मो व्यवहारौ ॥१॥”

इस पद्यमें श्रद्धेय पंडितजीने कहा है कि आत्माका हित सुख है और वह सुख जीवमें आकुलताका अभाव होनेपर उत्पन्न होता है । उस आकुलताका अभाव भी मोक्षमें ही है । अतः जीवोंको मोक्षके मार्गमें प्रवृत्त होना चाहिये । मोक्षका मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप हैं । यह सम्यग्दर्शनादिरूप मोक्षमार्ग निश्चय तथा व्यवहारके भेदसे दो प्रकारका होता है अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों व्यवहाररूप भी होते हैं और निश्चयरूप भी होते हैं । इस तरह कहना चाहिये कि जो सम्यग्दर्शनादिक निश्चयरूप होते हैं वे निश्चय-मोक्षमार्गमें गभित होते हैं और जो सम्यग्दर्शनादिक व्यवहाररूप होते हैं वे व्यवहार-मोक्षमार्गमें गभित होते हैं । इनमेंसे जो मोक्षमार्ग मोक्षका साक्षात् कारण होता है वह निश्चय-मोक्षमार्ग है और जो मोक्षमार्ग निश्चयमोक्षमार्गका कारण होता है वह व्यवहार-मोक्षमार्ग है ।

यहाँ हम मुख्यतया इसी विषयको स्पष्ट करना चाहते हैं । इसलिये यहाँ पर हम सर्व प्रथम निश्चयसम्यग्दर्शनादिरूप निश्चय-मोक्षमार्ग तथा व्यवहारसम्यग्दर्शनादिरूप व्यवहार-मोक्षमार्गके स्वरूपका प्रतिपादन कर रहे हैं ।

निश्चयसम्यग्दर्शनादिरूप निश्चयमोक्षमार्गका स्वरूप

निश्चयसम्यग्दर्शनादिरूप निश्चयमोक्षमार्गका स्वरूप प्रतिपादन करनेके लिये भी श्रद्धेय ५० दौलतरामजीके छहढालाकी तीसरी ढालका निम्नलिखित पद्य पर्याप्त है—

‘परद्रव्यनतें भिन्न आपमें रुचि सम्यक्त्व भला है ।
आप रूपको जानपनो सो सम्यग्ज्ञान कला है ॥
आप रूपमें लीन रहे थिर सम्यक्चारित सोई ।
अब व्यवहार मोख मग सुनिये हेतु नियत को होई ॥२॥’

इस पद्यका आशय यह है कि समस्त चेतन-अचेतनरूप परपदार्थोंकी ओरसे मुड़ कर अपने आत्म-स्वरूपकी प्राप्तिकी ओर जीवकी अभिरुचि (उन्मुखता या झुकाव) हो जानेका नाम निश्चयसम्यग्दर्शन है, जीवको अपने आत्मस्वरूपका ज्ञान हो जानेका नाम निश्चयसम्यग्ज्ञान है और बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक होने वाली कषायजन्य पाप व पुण्यरूप समस्त प्रकारकी प्रवृत्तियोंसे निवृत्ति पाकर जीवका अपने आत्मस्वरूपमें लीन हो जाना ही निश्चयसम्यक्चारित्र है ।

इस पद्यके अन्तिम चरणमें श्रद्धेय पंडितजीने संकेत किया है कि आगे सम्पूर्ण छहढालामें निश्चय-सम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्चारित्ररूप निश्चय मोक्षमार्गके कारणभूत व्यवहार-सम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्ररूप व्यवहारमोक्षमार्गका विवेचन किया जायगा । इस तरह पंडित दौलतरामजीके द्वारा छहढालामें किये गये विवेचनके अनुसार व्यवहारमोक्षमार्ग-रूप व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्रका स्वरूप निर्धारित होता है । उसीका यहाँपर विशेष कथन किया जाता है ।

व्यवहारसम्यग्दर्शनका स्वरूप

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष नामके सात तत्त्वोंके प्रति जीवके अन्तःकरणमें श्रद्धा अर्थात् इनके स्वरूपादिकी वास्तविकताके सम्बन्धमें ज्ञानकी दृढ़ता (आस्तिक्य भाव) जागृत हो जानेका नाम व्यवहारसम्यग्दर्शन है। इसके आधारपर ही जीवोंको उपर्युक्त निश्चयसम्यग्दर्शनकी उपलब्धि हुआ करती है।

आचार्य उमास्वामीके तत्त्वार्थसूत्रमें व स्वामी समन्तभद्रके रत्नकरण्डकश्रावकाचारमें सम्यग्दर्शनका जो स्वरूप उपलब्ध होता है वह व्यवहारसम्यग्दर्शनका ही स्वरूप है। यद्यपि उमास्वामीके तत्त्वार्थसूत्रमें उपर्युक्त सात तत्त्वोंके श्रद्धानका नाम ही सम्यग्दर्शन कहा है^१। लेकिन स्वामी समन्तभद्रके रत्नकरण्डकश्रावकाचारमें सम्यग्दर्शनका लक्षण इस रूपमें बतलाया है कि परमार्थ अर्थात् वीतरागताके आदर्श देवों, परमार्थ अर्थात् वीतरागताके पोषक शास्त्रों और परमार्थ अर्थात् वीतरागताके मार्गमें प्रवृत्त गुरुओंके प्रति जीवके अन्तःकरणमें भक्तिका जागरण हो जाना सम्यग्दर्शन है।^२ अतः तत्त्वार्थसूत्र और रत्नकरण्डकश्रावकाचारमें प्रतिपादित सम्यग्दर्शनके इन लक्षणोंमें उपर्युक्त प्रकारसे यद्यपि भेद दिखाई देता है। परन्तु गहराईसे विचार करने पर मालूम हो जाता है कि रत्नकरण्डकश्रावकाचारमें प्रतिपादित लक्षणसे भी निष्कर्षके रूपमें जीवके अन्तःकरणमें उपर्युक्त सात तत्त्वोंके प्रति आस्तिक्यभावकी जागृति हो जाना ही सम्यग्दर्शनका स्वरूप निश्चित होता है।

व्यवहारसम्यग्ज्ञानका स्वरूप

वीतरागताके पोषक अथवा सप्ततत्त्वोंके यथावस्थित स्वरूपके प्रतिपादक आगमका श्रवण, पठन, पाठन, अभ्यास, चिन्तन और मननका नाम व्यवहारसम्यग्ज्ञान है। इस प्रकारके व्यवहारसम्यग्ज्ञानके आधार पर ही जीवोंको समस्त वस्तुओंके और विशेष कर आत्माके स्वतःसिद्ध स्वरूपका बोध होता है। जैसे आत्माका स्वतःसिद्ध स्वरूप ज्ञायकपना^३ अर्थात् समस्त पदार्थोंको देखने-जाननेकी शक्ति रूप है। चूँकि यह स्वरूप स्वतःसिद्ध है। अतः यह आत्मा के अनादि, अनिघन स्वाश्रित और अखण्ड (स्वरूपके साथ तादात्म्यको लिए हुए) अस्तित्वको सिद्ध करता है।^४ हमें आत्माके इस तरहके स्वरूपको समझनेमें उपर्युक्त प्रकारके आगमका श्रवण, पठन, पाठन, अभ्यास, चिन्तन और मनन सहायक होता है।

विचार कर देखा जाय तो सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेसे पूर्व ही इस प्रकारके सम्यक् अर्थात् वीतरागताके पोषक ज्ञानको प्राप्त करनेकी प्रत्येक जीवके लिये आवश्यकता है। आचार्य कुन्दकुन्दके समयसारकी गाथा १८ से भी यही संकेत प्राप्त होता है^५ क्योंकि उसमें बतलाया है कि पहले आत्मारूपी राजाकी पहिचान करो, फिर उसका श्रद्धान अर्थात् आश्रयण करो और तत्पश्चात् उसके अनुकूल आचरण करो तो मोक्षकी प्राप्ति होगी। इस तरह मोक्षमार्गमें यद्यपि सम्यग्दर्शनसे पूर्व ही सम्यग्ज्ञानको स्थान देना चाहिये। परन्तु वहाँपर इसको जो

१. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् । त० सू० १-२ ।

जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ।-तत्त्वार्थसूत्र १-४ ।

२. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ४ ।

३. समयसार, गाथा ६ ।

४. पंचाध्यायी, श्लोक ८ ।

५. समयसार, गाथा १८ ।

सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रके मध्यमें स्थान दिया गया है, इसका एक कारण तो यह है कि जीवको सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो जानेपर ही उसके उक्त प्रकारके ज्ञानकी सम्यक् रूपता अर्थात् सार्थकता सिद्ध होती है । और दूसरा कारण यह है कि जीवको उसकी (उक्त प्रकारके ज्ञानकी) उपयोगिता मध्यदीपक न्यायसे सम्यग्दर्शनकी तरह सम्यक्चारित्रपर आरूढ़ होनेके लिए भी सिद्ध होती है ।^२ इसके अतिरिक्त एक तीसरा कारण यह भी है कि मोक्षमार्गके रूपमें सम्यग्दर्शनकी पूर्ति सर्वप्रथम अर्थात् चतुर्थगुणस्थानसे लेकर अधिक-से-अधिक सप्तमगुणस्थान तक नियमसे हो जाती है, सम्यग्ज्ञानकी पूर्ति उसके बाद तेरहवें गुणस्थानके प्रथम समयमें होती है और सम्यक्चारित्रकी पूर्ति सम्यग्ज्ञानकी पूर्तिके अनन्तर चौदहवें गुणस्थानके अन्त समयमें ही होती है । इस विषयको आगे स्पष्ट किया जायगा ।

व्यवहारसम्यक्चारित्रका स्वरूप

बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक होने वाली समस्त कषायजन्य पाप और पुण्यरूप प्रवृत्तियोंसे निवृत्ति पाकर अपने आत्मस्वरूपमें लीन (स्थिर) होनेरूप निश्चयसम्यक्चारित्रकी प्राप्तिके लिए यथाशक्ति अणुव्रत, महाव्रत, समिति, गुप्ति, धर्म और तप आदि क्रियाओंमें जीवकी प्रवृत्ति होने लग जाना व्यवहार सम्यक्चारित्र है ।

उक्त प्रकारके निश्चयसम्यक्चारित्रका अपर नाम यथाख्यातचारित्र है तथा उसे वीतरागचारित्र भी कहते हैं ।^३ उसकी प्राप्ति जीवको यद्यपि उपशमश्रेणीपर आरूढ़ होकर ११वें गुणस्थानमें पहुँचनेपर भी होती है और क्षपक श्रेणीपर आरूढ़ होकर १२वें गुणस्थानमें पहुँचनेपर भी होती है । परन्तु ११वें गुणस्थान और १२वें गुणस्थानके निश्चयसम्यक्चारित्रमें परस्पर अन्तर पाया जाता है । अर्थात् उपशमश्रेणीपर आरूढ़ होकर ११वें गुणस्थानमें पहुँचने वाला जीव अन्तर्मुहूर्तके अल्पकालमें ही पतनकी ओर उन्मुख हो जाता है और तब उसका वह निश्चयसम्यक्चारित्र भी उसी समय समाप्त हो जाता है । इसके विपरीत क्षपकश्रेणीपर आरूढ़ होकर १२वें गुणस्थानमें पहुँचने वाला जीव कदापि पतनकी ओर उन्मुख नहीं होना । इसलिए उसका वह निश्चयसम्यक्चारित्र स्थायी रहा करता है साथ ही वह जीव अन्तर्मुहूर्तके अल्पकालमें ही १२वें गुणस्थानसे १३वें गुणस्थानमें पहुँच कर नियमसे सर्वज्ञताको प्राप्त कर लेता है । मोक्ष-मार्गके प्रकरणसे १२वें गुणस्थानमें प्राप्त होने वाले स्थायी निश्चयचारित्रको ही ग्रहण किया गया है ।

यहाँपर एक बात हम यह कह देना चाहते हैं कि उपर्युक्त निश्चयसम्यक्चारित्रकी प्राप्तिके लिए ही चतुर्थ गुणस्थानका अविरतसम्यग्दृष्टि जीव मुमुक्षु होकर पुरुषार्थ करके पाँचवें गुणस्थानमें अणुव्रत धारण करता है तथा इससे भी आगे बढ़कर छठे गुणस्थानमें वह महाव्रत धारण करता है । इतना ही नहीं, घोर तपश्चरण करके आगे बढ़ता हुआ वह सातवें गुणस्थानमें शुद्धोपयोगकी भूमिकाको प्राप्त होकर आत्मपरिणामोंकी उत्तरोत्तर बढ़ती हुई यथायोग्य विशुद्धिके अनुसार उपशमश्रेणीपर आरूढ़ होता है या क्षपक श्रेणीपर आरूढ़ होता है । इस तरह कहना चाहिये कि जब तक उस जीवको उक्त निश्चयसम्यक्चारित्रकी प्राप्ति नहीं हो जाती है तब तक वह पाँचवें और छठे गुणस्थानोंमें बुद्धिपूर्वक और सातवेंसे लेकर दशवें तकके गुणस्थानोंमें अबुद्धिपूर्वक उपर्युक्त व्यवहारसम्यक्चारित्रमें ही प्रवृत्त रहता है । इस व्यवहारसम्यक्चारित्रका भी अपर नाम संक्षेपसे सरागचारित्र और विस्तारसे सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसांपरायरूप चारित्र है ।

१. रत्नकरंडकश्रावकाचार, श्लोक ९७ ।

२. प्रवचनसार, गाथा ७ ।

यद्यपि अणुव्रत और महाव्रत तथा समिति, गुप्ति, धर्म एवं तपश्चरण आदि बाह्यक्रियायें उस-उस कषायके उदय और अनुदयके अनुसार पूर्वोक्त सम्यग्दर्शनसे रहित कोई-कोई मिथ्यादृष्टि जीव भी करने लगते हैं। इतना ही नहीं, इन क्रियाओंको संलग्नतापूर्वक करनेपर उनमेंसे कोई-कोई जीव यथासंभव स्वर्गमें नववें ग्रैवेयक तक जन्म भी धारण कर लेते हैं। परन्तु इतनी बात अवश्य है कि इन क्रियाओंकी निश्चयसम्यक्-चारित्रकी प्राप्तिपूर्वक मोक्षप्राप्तिरूप सार्थकता उक्त सम्यग्दर्शनके प्राप्त होनेपर ही हुषा करती है अन्यथा नहीं, क्योंकि जीव जब तक मिथ्यादृष्टि बना रहता है तब तक उसके अनन्तानुबन्धी कषायका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम न हो सकनेके कारण यथायोग्य अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण कषायोंका क्षयोपशम होना असम्भव ही रहा करता है जब कि अणुव्रत और महाव्रतरूप व्यवहारसम्यक्चारित्र यथायोग्य इन कषायोंका क्षयोपशम होनेपर ही जीवको प्राप्त हुआ करता है।

इसका अभिप्राय यह है कि जब जीवके अप्रत्याख्यानावरण कषायका उदय समाप्त होकर प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय कार्यरत हो जाता है तब वह जीव व्यवहारसम्यक्चारित्रके रूपमें अणुव्रतोंको धारण करता है।^१ और जब जीवके अप्रत्याख्यानावरण कषायके साथ-साथ प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय भी समाप्त होकर मात्र संज्वलन कषाय व नोकषायका उदय कार्यरत हो जाता है तब वह जीव व्यवहारसम्यक्-चारित्रके रूपमें महाव्रत धारण करता है।^२ यह स्थिति अनन्तानुबन्धी कषायके उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम के अभावमें मिथ्यादृष्टि जीवके कदापि संभव नहीं है। अतः उसके (मिथ्यादृष्टि जीवके) यथायोग्य कषायके अनुदयके साथ-साथ यथायोग्य कषायके उदयमें बाह्यक्रियाके रूपमें अणुव्रत, महाव्रत आदिकी स्थितिका होना तो संभव है। लेकिन जब तक उस जीवको सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हो जाता है तब तक अनन्तानुबन्धी कषायका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम न हो सकनेके कारण यथायोग्य अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायोंकी उदय-समाप्ति असंभव होनेसे अणुव्रत, महाव्रत आदिकी स्थितिको व्यवहारसम्यक्चारित्रका रूप प्राप्त होना संभव नहीं है।

यहाँपर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि जीवको सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जानेपर नियमसे अनन्तानुबन्धी कषायका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम हो जानेपर भी सामान्यतया यह नियम नहीं है कि उसके अणुव्रत अथवा महाव्रतरूप व्यवहारसम्यक्चारित्र अथवा अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण कषायोंकी उदय-समाप्ति हो ही जाना चाहिये। किन्तु नियम यह है कि जिस सम्यग्दृष्टि जीवके अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण कषायोंका उदय समाप्त हो जाता है उसके ही यथायोग्य अणुव्रत व महाव्रतरूप व्यवहारसम्यक्-चारित्रकी स्थिति उत्पन्न होती है, शेष सम्यग्दृष्टि जीव तब तक अत्रती ही रहा करते हैं, जब तक उनके अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण कषायोंका उदय समाप्त नहीं हो जाता है।

निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्गरूप सम्यग्दर्शनादिकका यह सम्पूर्ण विवेचन हमने चरणानुयोगकी दृष्टिसे ही किया है। इस तरह इस विवेचनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि चरणानुयोगमें सम्यग्दर्शनादिरूप निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्गके रूपमें जो दो प्रकारके मोक्षमार्गका कथन किया गया है उसका आशय निश्चयमोक्षमार्गको तो मोक्षका साक्षात् कारण बतलाया है और व्यवहारमोक्षमार्गको उसका (मोक्षका) परंपरा अर्थात् निश्चयमोक्षमार्गका कारण होकर कारण बतलाना है। इसी प्रकार उसका आशय निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्चारित्रको तो कार्यरूप तथा व्यवहारसम्यग्दर्शन,

१. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ३०।

२. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ३१।

व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्रको क्रमशः उन निश्चय सम्यग्दर्शनादिकका कारण रूप बतलाना ही है ।

इससे हमें यह शिक्षा प्राप्त होती है कि मोक्षकी प्राप्तिके लिए प्रत्येक जीवको मोक्षके साक्षात् कारण-भूत निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्चारित्रकी तथा इन निश्चयसम्यग्दर्शनादिककी प्राप्तिके लिए व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्रकी अनिवार्य आवश्यकता है । इस तरह दो प्रकारके मोक्षमार्गकी मान्यता उचित हो है, अनुचित नहीं है ।

अब यदि कोई व्यक्ति निश्चयमोक्षमार्गरूप निश्चयसम्यग्दर्शनादिककी प्राप्तिके बिना ही केवल व्यवहारमोक्षमार्गरूप व्यवहारसम्यग्दर्शनादिकके आधार पर ही मोक्ष-प्राप्तिकी मान्यता रखते हैं तो वे गलती-पर हैं कारण कि फिर तो व्यवहारसम्यग्दर्शनादिकको व्यवहारमोक्षमार्ग कहना ही असंगत होगा, क्योंकि इस मान्यतामें वे व्यवहारसम्यग्दर्शनादिक मोक्षके साक्षात् कारण हो जानेसे निश्चय मोक्षमार्गरूप ही हो जावेंगे ।

इस कथनका तात्पर्य यह है कि निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चयसम्यग्दर्शनादिकमें पठित 'निश्चय' शब्द हमें निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चयसम्यग्दर्शनादिकमें मोक्षकी साक्षात् कारणताका बोध कराता है और व्यवहार-मोक्षमार्ग अथवा व्यवहार सम्यग्दर्शनादिकमें पठित 'व्यवहार' शब्द हमें व्यवहारमोक्षमार्ग अथवा व्यवहार-सम्यग्दर्शनादिकमें मोक्षकी परंपरया कारणताका अर्थात् निश्चयमोक्षमार्ग अथवा निश्चयसम्यग्दर्शनादिककी कारणतापूर्वक मोक्षकी कारणताका बोध कराता है । हमारे इस कथनकी पुष्टि, आगममें जो पूर्वोक्त प्रकार निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चयसम्यग्दर्शनादिकको साध्यरूप या कार्यरूप तथा व्यवहारमोक्षमार्ग या व्यवहार-सम्यग्दर्शनादिकको साधनरूप या कारणरूप प्रतिपादित किया गया है, उससे हो जाती है ।

इसी प्रकार जो व्यक्ति ऐसा कहते हैं कि जीवको मोक्षकी प्राप्ति तो निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चय-सम्यग्दर्शनादिककी उपलब्धि हो जाने पर ही होती है । अतः हमें व्यवहारमोक्ष-मार्ग या व्यवहारसम्यग्दर्शनादिकपर लक्ष्य न देकर निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चयसम्यग्दर्शनादिकके ऊपर ही लक्ष्य देना चाहिये, तो ऐसे व्यक्ति भी गलती पर हैं, क्योंकि वे इस बातको नहीं समझ पा रहे हैं कि जीव जब तक व्यवहारमोक्ष-मार्गपर आरूढ़ नहीं होगा तब तक उसे निश्चय-मोक्षमार्गकी उपलब्धि होना संभव नहीं है क्योंकि यह बात पूर्वमें स्पष्ट की जा चुकी है कि मोक्षमार्गके अंगभूतनिश्चय सम्यक्चारित्रकी उपलब्धि जीवको उपशमश्रेणी पर आरूढ़ होनेके अनन्तर अस्थायी रूपमें तो ११वें गुणस्थानमें पहुँचने पर होती है तथा स्थायीरूपमें क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होनेके अनन्तर १२वें गुणस्थानमें पहुँचने पर होती है । इस प्रकार कहना चाहिये कि जीव पंचम गुणस्थानसे लेकर जब तक उपशम या क्षपक श्रेणी माँडकर ११वें या १२वें गुणस्थानमें नहीं पहुँच जाता तब तक अर्थात् १०वें गुणस्थान तक उसके पूर्वोक्त व्यवहारसम्यक्चारित्र ही रहा करता है । इससे एक यह मान्यता भी खण्डित हो जाती है कि व्यवहारमोक्ष-मार्ग पर आरूढ़ हुए बिना ही निश्चयमोक्षमार्गकी प्राप्ति जीवको हो जाती है, क्योंकि प्रत्येक जीव जब यथायोग्य गुणस्थानक्रमसे आगे बढ़ता हुआ ही ११वें गुणस्थानमें अथवा १२वें गुणस्थानमें पहुँच सकता है जहाँ कि निश्चयसम्यक्चारित्रकी उपलब्धि उसे होती है तो इससे यह बात निश्चित हो जाती है कि व्यवहारमोक्षमार्ग पर आरूढ़ हुए बिना निश्चयमोक्षमार्गकी उपलब्धि कदापि जीवको संभव नहीं है ।

हमारे इस कथनसे एक मान्यता यह भी खण्डित हो जाती है कि जिस जीवको निश्चयसम्यक्चारित्र

की प्राप्ति हो जाती है उसके व्यवहारसम्यक्चारित्र अनायास ही हो जाता है उसे उसकी प्राप्तिके लिये पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता है। हमारे उपर्युक्त कथनसे इस मान्यताके खण्डित होनेमें एक आधार यह भी है कि आगममें व्यवहारसम्यक्चारित्रको निश्चयसम्यक्चारित्रमें कारण बतलाया गया है, इस तरह कारण होनेकी वजहसे जब जीवमें व्यवहारसम्यक्चारित्रका निश्चयसम्यक्चारित्ररूप कार्यके पूर्व सद्भाव रहना आवश्यक है तो इस स्थितिमें फिर यह बात कैसे संगत कही जा सकती है “कि जिस जीवको निश्चयसम्यक्चारित्रकी प्राप्ति हो जाती है उसको व्यवहारसम्यक्चारित्र अनायास ही हो जाता है—उसे उसकी प्राप्तिके लिये पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता है ?” इस विषयमें दूसरा आधार यह भी है कि जो व्यक्ति व्यवहारमोक्षमार्ग या व्यवहारसम्यग्दर्शनादिकके ऊपर लक्ष्य न देकर केवल निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चयसम्यग्दर्शनादिकके ऊपर लक्ष्य देनेकी बात कहते हैं वे भी निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चयसम्यग्दर्शनादिककी उपलब्धिके लिये पुरुषार्थ करनेका उपदेश जीवोंके देते हैं तो इसका आशय यही होता है कि प्रत्येक जीवको निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चयसम्यग्दर्शनादिककी उपलब्धिके लिये व्यवहारमोक्षमार्ग या व्यवहारसम्यग्दर्शनादिककी प्राप्ति ही प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चयसम्यग्दर्शनादिककी उपलब्धिके लिये जो भी प्रयत्न किया जायगा वह प्रयत्न व्यवहारमोक्षमार्ग या व्यवहारसम्यग्दर्शनादिकके अलावा और कुछ नहीं होगा। अर्थात् उस प्रयत्न (पुरुषार्थ) का नाम ही व्यवहारमोक्षमार्ग या व्यवहारसम्यग्दर्शनादिक है जो निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चयसम्यग्दर्शनादिककी उपलब्धिके लिये किया जाता है।

एक बात और है कि हमारे पूर्व प्रतिपादनके अनुसार व्यवहारसम्यक्चारित्रका अपर नाम सरागचारित्र है जैसा कि निश्चयसम्यक्चारित्रका अपर नाम वीतरागचारित्र है और यह बात निर्विवाद है कि दशवें गुणस्थान तक जीवमें सरागचारित्र ही रहा करता है, वीतरागचारित्र नहीं, तथा यों भी कहिये कि दशवें गुणस्थान तक ही सरागचारित्र रहा करता है, आगेके गुणस्थानोंमें नहीं, इस तरह इसका अभिप्राय यह होता है कि सरागचारित्रका अभाव हो जाने पर ही वीतरागचारित्रकी उपलब्धि जीवको हुआ करती है और इसका अभिप्राय भी यह हुआ कि व्यवहारसम्यक्चारित्रका अभाव हो जाने पर ही निश्चयसम्यक्चारित्रकी उपलब्धि जीवको हुआ करती है अथवा यों कहिये कि जिस जीवको निश्चयसम्यक्चारित्रकी उपलब्धि हो जाती है उसके फिर व्यवहारचारित्रका अभाव ही हो जाया करता है। इस तरह तब इस बातको कैसे संगत माना जा सकता है कि “जीवको निश्चयसम्यक्चारित्रकी उपलब्धि हो जाने पर व्यवहारसम्यक्चारित्रकी उपलब्धि अनायास हो जाती है ?” और यही कारण है कि आचार्य अमृतचन्द्रने समयसार गाथा ३०५ की टीकामें व्यवहाराचारसूत्र^१ का उद्धरण देकर व्यवहारसम्यक्चारित्रको तब तक अमृत-कुम्भ कहा है जब तक जीवको निश्चयसम्यक्चारित्रकी उपलब्धि नहीं हो जाती है तथा भगवान् कुन्दकुन्द^२ ने उसी व्यवहारसम्यक्चारित्रको तब विषकुम्भी उपमा दे दी है जब जीवको निश्चयसम्यक्चारित्रकी उपलब्धि हो जाती है।

इस तरह यह बात निर्णीत हो जाती है कि जब तक जीवको निश्चयसम्यक्चारित्रकी उपलब्धि नहीं हो जाती है तब तक उसके लिए मोक्षप्राप्तिके उद्देश्यसे परंपर्या कारणके रूपमें अथवा निश्चयसम्यक्चारित्रके साधनके रूपमें व्यवहारसम्यक्चारित्र नियमसे उपयोगी सिद्ध होता है। इसलिये मोक्षप्राप्तिके उद्देश्यसे निश्चयसम्यक्चारित्रकी प्राप्तिके लिये प्रत्येक जीवको व्यवहारसम्यक्चारित्रको धारण

१. समयसार, गाथा ३०५, आचार्य अमृतचन्द्र टीका।

२. समयसार, गाथा ३०६, ३०७।

करनेका सतत प्रयत्न करना चाहिये । इतनी बात अवश्य है कि कोई भी चारित्र तब तक 'व्यवहारसम्यक् चारित्र' नाम नहीं पा सकता है जब तक कि वह चारित्र सम्यग्दर्शनके सद्भावमें न हो, जैसाकि पूर्वमें हम स्पष्ट कर आये हैं ।

इस प्रकार आगमप्रमाणके आधार पर किये गये उपर्युक्त विवेचनसे यह मान्यता, कि 'जिस जीवको निश्चयसम्यक्चारित्रकी प्राप्ति हो जाती है उसके व्यवहारसम्यक्चारित्र अनायास ही हो जाता है उसे उसकी प्राप्तिके लिये पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता है,' निश्चित रूपमें खण्डित हो जाती है ।

इतना स्पष्ट विवेचन करने पर भी अब यदि कोई व्यक्ति यह कहता है कि व्यवहारमोक्षमार्ग तो संसारका ही कारण है, मोक्षका नहीं, तो उसका ऐसा कहना भी दुराग्रहपूर्ण ही माना जायगा ।

इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि यदि व्यवहारमोक्षमार्ग संसारका ही कारण है मोक्षका नहीं, तो फिर उसे आगममें 'मोक्षमार्ग' शब्दसे पुकारना ही असंगत है । दूसरी बात यह है कि संसारका मुख्य कारण तो मोहनीयकर्मके उदयसे होनेवाले जीवके मिथ्यादर्शन, 'मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्ररूप परिणाम ही है । यद्यपि यह बात सत्य है कि व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्रको प्राप्त करके भी जीव जब तक निश्चय-सम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्चारित्रको प्राप्त नहीं कर लेता है तब तक उसे मोक्षका प्राप्त होना असंभव है । अर्थात् वह तब तक संसारमें ही रहा करता है । परन्तु इस आधार पर उन व्यवहारसम्यग्दर्शनादिकको सर्वथा संसारका ही कारण मान लेना असंगत बात है । फिर भी इतना तो माना जा सकता है कि चूँकि व्यवहार-सम्यग्दर्शनादिक निश्चय-सम्यग्दर्शनादिककी उत्पत्तिमें कारण होते हैं अतः इस रूपमें वे कथंचित् मोक्षके भी कारण हैं और चूँकि व्यवहार-सम्यग्दर्शनादिकके सद्भावमें भी जीवको जब तक निश्चय-सम्यग्दर्शनादिककी उपलब्धि नहीं हो जाती तब तक मोक्षकी प्राप्ति असंभव है । अतः उनमें कथंचित् संसारकी कारणता स्वीकार करना भी असंगत नहीं है । इस स्पष्टीकरणमें कही हुई इन सब बातोंको समझनेके लिये यहाँ पर थोड़ा करणानुयोगकी दृष्टिसे भी सम्यग्दर्शनादिकके सम्बन्धमें विचार किया जा रहा है ।

करणानुयोगकी दृष्टिसे निश्चय और व्यवहार सम्यग्दर्शनादिकका स्वरूप

इसके पूर्व कि हम करणानुयोगकी दृष्टिसे निश्चय और व्यवहार सम्यग्दर्शनादिकका विवेचन करें, आवश्यक जानकर करणानुयोगके सम्बन्धमें ही कुछ विवेचन कर देना चाहते हैं ।

करणानुयोगमें पठित 'अनुयोग' शब्दका अर्थ आगम होता है । इस तरह सम्पूर्ण जैनागमको यदि विभक्त किया जाय तो वह चार भागोंमें विभक्त हो जाता है—प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोग ।

इनमेंसे प्रथमानुयोग वह है जिसमें अध्यात्मको लक्ष्यमें रखकर महापुरुषोंके जीवनचरित्रके आधारपर पाप, पुण्य और धर्मके फलका दिग्दर्शन कराया गया है । चरणानुयोग वह है जिसमें अध्यात्मको लक्ष्यमें रखकर पाप, पुण्य और धर्मकी व्यवस्थाओंका निर्देश किया गया है । करणानुयोग वह है जिसमें जीवोंकी पाप, पुण्य और धर्ममय परिणतियों तथा उनके कारणोंका विश्लेषण किया गया है और द्रव्यानुयोग वह है जिसमें विश्वकी सम्पूर्ण वस्तुओंके पृथक् अस्तित्वको बतलाने वाले स्वतःसिद्ध स्वरूप एवं उनके परिणमनोंका निर्धारण किया गया है । यहाँपर हम इन सब अनुयोगोंके आधारपर वस्तुस्वरूपपर प्रकाश न डाल कर प्रकरणके लिये उपयोगी प्रतिज्ञात करणानुयोगके आधारपर ही वस्तुस्वरूपपर प्रकाश डाल रहे हैं ।

आत्माका स्वरूप ज्ञायकपना अर्थात् विश्वके समस्त पदार्थोंको देखने-जाननेकी शक्ति रूप है। यह कथन हम पूर्वमें भी कर आये हैं। इसमें निर्दिष्ट ज्ञायकपना आत्माका स्वतःसिद्ध स्वभाव है, इसलिये इस आधार पर एक तो आत्माका स्वतन्त्र और अनादि तथा अनिघन अस्तित्व सिद्ध होता है। दूसरे, जिस प्रकार आकाश अपने स्वतःसिद्ध अवगाहक स्वभावके आधारपर विश्वके सम्पूर्ण पदार्थोंको अपने अन्दर एक साथ हमेशा समाये हुए है उसी प्रकार आत्माको भी अपने स्वतःसिद्ध ज्ञायक स्वभाव के आधारपर विश्वके सम्पूर्ण पदार्थोंको एक साथ हमेशा देखते-जानते रहना चाहिये। परन्तु हम देख रहे हैं कि जो जीव अनादिकालसे संसार-परिभ्रमण करते हुए इसी चक्रमें फँसे हुए हैं उन्होंने अनादिकालसे अभी तक न तो कभी विश्वके सम्पूर्ण पदार्थोंको एक साथ देखा व जाना है और न वे अभी भी उन्हें एक साथ देख-जान पा रहे हैं। इतना ही नहीं, इन संसारी जीवोंमें एक तो तरतमभावसे ज्ञानकी मात्रा अल्प ही पायी जाती है। दूसरे, जितनी मात्रामें इनमें ज्ञान होता हुआ देखा जाता है वह भी इन्द्रियादिक अन्य साधनोंकी सहायतासे ही हुआ करता है। एक बात और है कि ये संसारी जीव पदार्थोंको देखने-जाननेके पश्चात् उन जाने हुए पदार्थोंमें इष्टपने या अनिष्टपनेकी कल्पनारूप मोह किया करते हैं और तब वे इष्ट कल्पनाके विषयभूत पदार्थोंमें प्रीतिरूप राग तथा अनिष्ट कल्पनाके विषयभूत पदार्थोंमें अप्रीति (घृणा) रूप द्वेष सतत किया करते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि उन्हें सतत इष्ट कल्पनाके विषयभूत पदार्थोंकी प्राप्तिमें और अनिष्ट कल्पनाके विषयभूत पदार्थोंकी अप्राप्तिमें हर्ष हुआ करता है तथा अनिष्ट कल्पनाके विषयभूत पदार्थोंकी प्राप्तिमें और इष्ट कल्पनाके विषयभूत पदार्थोंकी अप्राप्तिमें विषाद हुआ करता है। यद्यपि ऐसा भी सम्भव है कि किन्हीं-किन्हीं (सम्यग्दृष्टि) संसारी जीवोंको इस प्रकारसे हर्ष-विषाद नहीं होते, फिर भी वे जीव जब शरीरकी अधीनतामें ही रह रहे हैं और उनका अपना-अपना शरीर अपनी स्थिरताके लिये अन्य भोजनादिककी अधीनताको स्वीकार किये हुए है तो ऐसी स्थितिमें शरीरके लिये उपयोगी (आवश्यक) उन पदार्थोंकी प्राप्ति व अप्राप्तिमें उन्हें भी यथायोग्य सुख या दुःखका संवेदन तो हुआ ही करता है और तब उन्हें अपने दुःख-संवेदनको समाप्त करने व सुख-संवेदनको प्राप्त करनेके लिये उन पदार्थोंकी प्राप्ति व उपभोगमें प्रवृत्त होना पड़ता है। इसके भी अतिरिक्त जिनका संसार अभी चालू है ऐसे संसारी जीव अनादिकालसे कभी देव, कभी मनुष्य, कभी तिर्यच और कभी नारकी होते आये हैं, वे कभी एकेन्द्रिय, कभी द्वीन्द्रिय, कभी त्रीन्द्रिय, कभी चतुरिन्द्रिय और कभी पञ्चेन्द्रिय भी होते आये हैं। इतना ही नहीं, इन्होंने कभी पृथ्वीका, कभी जलका, कभी तेजका, कभी वायुका और कभी वनस्पतिका भी शरीर धारण किया है। हम यह भी देखते हैं कि एक ही श्रेणीके जीवोंके शरीरोंमें भी परस्पर विलक्षणता पायी जाती है। साथ ही कोई तो लोकमें प्रभावशाली देखे जाते हैं व कोई प्रभावहीन देखे जाते हैं। और भी देखा जावे तो लोक एक जीवमें उच्चताका तथा दूसरे जीवमें नीचताका भी व्यवहार किया करता है। इसी प्रकार प्रायः किसीको यह पता नहीं कि कौन जीव कब अपने वर्तमान शरीरको छोड़ कर चला जायगा और दूसरा शरीर धारण कर लेगा।

जीवोंमें ये सब विलक्षणतायें क्यों हो रही हैं ? इसका समाधान आगमग्रंथोंमें इस तरह किया गया है कि प्रत्येक संसारी जीव अपने स्वतःसिद्ध देखने-जाननेरूप स्वभाव वाला होकरके भी अनादिकालसे स्वर्ण-पाषाणकी तरह पौद्गलिक कर्मोंके साथ सम्बद्ध (मिश्रित यानी एक क्षेत्रावगाही रूपसे एकमेकपनेको प्राप्त) हो रहा है।^२ ये कर्म ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, अयु, नाम, गोत्र और अन्तरायके भेदसे मूल रूपमें आठ प्रकारके हैं। इनमेंसे ज्ञानावरण कर्मका कार्य जीवकी जाननेकी शक्तिको आवृत करना है,

१. समयसार, गाथा १६०। गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा २।

२. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा ८।

दर्शनावरण कर्मका कार्य जीवकी देखनेकी शक्तिको आवृत करना है, वेदनीय कर्मका कार्य जीवको शरीरादिक परपदार्थके आधारपर यथायोग्य सुख अथवा दुःखका संवेदन कराना है, मोहनीय कर्मका कार्य जीवको पर पदार्थके आधारपर ही यथायोग्य मोही, रागी और द्वेषी बनाकर उचित अनुचित रूप विविध प्रकारकी प्रवृत्तियोंमें व्यापृत करनेका है, आयुःकर्मका कार्य जीवको उसके अपने शरीरमें सीमित काल तक रोक रखनेका है, नामकर्मका कार्य जीवको मनुष्यादिरूपता प्राप्त करानेका है, गोत्र कर्मका कार्य कुल, शरीर तथा आचरण आदिके आधारपर जीवमें उच्चता तथा नीचताका व्यवहार करानेका है और अन्तरायकर्मका कार्य जीवकी स्वतःसिद्ध स्वावलम्बन शक्तिका घात करना है।^१

करणानुयोगकी व्यवस्था यह है कि इन सब प्रकारके कर्मोंको जीव हमेशा अपने विकारी भावों (परिणामों) द्वारा बाँधता है और जीवके वे विकारी परिणाम पूर्वमें बद्ध पुद्गल कर्मके उदयमें हुआ करते हैं।^२ इस तरह जीवके साथ बँधे हुए ये कर्म उसमें अपनी सत्ता बना लेते हैं तथा अन्तमें उदयमें आकर अर्थात् जीवको अपना फलानुभव कराकर ये निर्जरित हो जाते हैं।^३ लेकिन इतनी बात अवश्य है कि उस फलानुभवसे प्रभावित होकर यह जीव इसी प्रकारके दूसरे कर्मोंसे पुनः बंधको प्राप्त हो जाता है।

ये कर्म जीवको जिस रूपमें अपना फलानुभव कराते हैं वह जीवका औदयिक भाव है क्योंकि जीवका उस प्रकारका भाव उस कर्मका उदय होनेपर ही होता है।^४ कदाचित् कोई जीव अपनेमें सत्ताको प्राप्त यथायोग्य कर्मको अपने पुरुषार्थ द्वारा इस तरह शक्तिहीन बना देता है कि वह कर्म अपनी फलदानशक्तिको सुरक्षित रखते हुए भी जीवको एक अन्तर्मुहूर्तके लिये फल देनेमें असमर्थ हो जाता है। कर्मकी इस अवस्थाका नाम उपशम है। इस तरह कर्मका उपशम होनेपर जीवकी जो अवस्था होती है उसे उस जीवका औपशमिक भाव कहते हैं।^५ कदाचित् कोई जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा कर्मको सर्वथा शक्तिहीन बना देता है जिससे वह कर्म उस जीवसे अपना सम्बन्ध समूल विच्छिन्न कर लेता है। कर्मकी इस अवस्थाका नाम क्षय है और इसके होनेपर जीवकी जो अवस्था होती है उसे जीवका क्षायिक भाव कहते हैं।^६ इसी प्रकार कदाचित् कोई जीव अपना पुरुषार्थ इस तरह करता है कि जिसके होनेपर कर्मके कुछ निश्चित अंश तो उदयरूपताको प्राप्त रहते हैं, कुछ निश्चित अंश उपशमरूपताको प्राप्त रहते हैं और कुछ निश्चित अंश क्षयरूपताको प्राप्त रहते हैं। कर्मकी इस प्रकारकी अवस्थाका नाम क्षयोपशम है। कर्मका इस प्रकारका क्षयोपशम होनेपर जीवकी जो अवस्था होती है उसे जीवका क्षायोपशमिक भाव कहते हैं।^७ इस क्षायोपशमिक भावका अपर नाम मिश्रभाव^८

१. प्रत्येक कर्मके कार्यको जाननेके लिए गो० कर्मकाण्डकी गाथा १० से गाथा ३३ तकका अवलोकन करना चाहिये।
२. समयसार, गाथा ८०।
३. विपाकोऽनुभवः। स यथानाम। ततश्च निर्जरा।—तत्त्वार्थसूत्र ८-२१, २२, २३।
४. पंचाध्यायी, अध्याय २, श्लोक ९६७।
५. पंचाध्यायी, अध्याय २, श्लोक ९६४।
६. पंचाध्यायी, अध्याय २, श्लोक ९६५।
७. पंचाध्यायी, अध्याय २, श्लोक ९६६।
८. औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामकौ च।—तत्त्वार्थसूत्र २-१।

भी आगममें बतलाया गया है। इस प्रकार कहना चाहिये कि यथायोग्य कर्मोंके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमके होनेपर जीवकी भी क्रमशः औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक अवस्थायें हो जाया करती हैं।^१

उपर्युक्त आठ कर्मोंमेंसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन कर्मोंकी प्रत्येक संसारी जीवमें अनादिकालसे क्षयोपशमरूप अवस्था ही रही है क्योंकि कभी इनकी सर्वथा उदय रूप अवस्था नहीं होती। इतना अवश्य है कि अनन्त संसारी जीवोंने अपने पुरुषार्थ द्वारा इन तीनों कर्मोंका सर्वथा क्षय कर डाला है और यदि कोई संसारी जीव अब भी पुरुषार्थ करे तो वह भी इनका सर्वथा क्षय कर सकता है। इस तरह ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मोंके यथायोग्य निमित्तसे सामान्यरूपमें जीवकी क्षायोपशमिक और क्षायिक दो ही प्रकारकी अवस्थायें होना संभव है, औदयिक और औपशमिक अवस्थायें इनमें संभव नहीं हैं। इतना अवश्य है कि यदि इन कर्मोंके यथायोग्य अन्तर्भेदोंकी अपेक्षा विचार किया जाय तो उनके निमित्तसे फिर जीवकी औदयिक अवस्था भी संभव है। जैसे जीवमें केवलज्ञान और केवलदर्शनका जब तक सर्वथा अभाव विद्यमान है तब तक इनके घातक केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण कर्मोंका उदय विद्यमान रहनेके कारण जीवकी केवलज्ञान और केवलदर्शनके अभावरूप औदयिक अवस्थायें भी मानी जा सकती हैं।

इसी प्रकार वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चार कर्मोंकी प्रत्येक जीवमें अनादिकालसे तो उदयरूप अवस्थायें ही रही हैं। कभी इनकी उपशम या क्षयोपशम रूप अवस्था न तो हुई और न होगी, लेकिन इनके सम्बन्धमें भी यह बात है कि अनन्त संसारी जीवोंने अपने पुरुषार्थ द्वारा इन चारों कर्मोंका सर्वथा क्षय अवश्य कर डाला है और यदि कोई संसारी जीव अभी भी पुरुषार्थ करे तो इनका सर्वथा क्षय कर सकता है। इस तरह कहना चाहिये कि इन कर्मोंके निमित्तसे जीवकी औदयिक और क्षायिक दो अवस्थायें ही संभव हैं। परन्तु यहाँ पर इतना ध्यान रखना चाहिये कि इनके क्षयके निमित्तसे होनेवाले क्षायिक भावोंकी गणना आगमोक्त क्षायिक भावोंमें करना उपयोगी न होनेके कारण आवश्यक नहीं समझा गया है। इनके क्षयके निमित्तसे होनेवाले जीवके क्षायिक भावोंको या तो अव्याबाध, अवगाहना, सूक्ष्मत्व और अगुरुलगुत्व गुणोंके रूपमें प्रतिजीवी भाव आगममें कहा गया है या फिर सामान्यतया संपूर्ण कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होनेवाला सिद्धत्व भाव इन्हें कह दिया गया है।

इन सात कर्मोंके अतिरिक्त जो मोहनीय कर्म शेष रह जाता है उसकी प्रत्येक संसारी जीवमें अनादिकालसे तो उदयरूप अवस्था ही विद्यमान रहती है। लेकिन भूतकालमें अनन्त संसारी जीवोंने अपने पुरुषार्थ द्वारा अनेक बार यथायोग्य उपशम या क्षयोपशम करके अन्तमें उसका सर्वथा क्षयकर मुक्तिको प्राप्त कर लिया है। अनेक संसारी जीवोंमें वह अभी भी यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम रूपमें बना हुआ है तथा जिन जीवोंमें वह अभी भी उदय रूपमें बना हुआ है वे भी अगर पुरुषार्थ करें तो उसकी इस उदयरूप हालतको परिवर्तित करके उपशम, क्षय या क्षयोपशमरूप अवस्था बना सकते हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि मोहनीय कर्मका यथायोग्य उदय, उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होने पर जीवकी क्रमशः औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ये चारों प्रकारकी अवस्थायें संभव होती हैं।

इस प्रकार जिन संसारी जीवोंने अनादिकालसे अभी तक अपने पुरुषार्थ द्वारा समस्त कर्मोंका क्षय कर डाला है वे तो मोक्षको प्राप्त हो चुके हैं और जो संसारी जीव आगे जब इन सभी कर्मोंका सर्वथा क्षय कर लेंगे वे भी तब मोक्षको प्राप्त हो जावेंगे।

१. पंचाध्यायी, अध्याय २, श्लोक १६२।

ऊपर बतलाये गये ढंगसे उपर्युक्त आठ कर्मोंके यथायोग्य उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमके आधार पर होनेवाली जीवोंकी अवस्थाओंकी उपयोगी कुल संख्या आगममें संक्षेपसे पचास बतलायी गयी है तथा इनमें तीन पारिणामिक भावोंको भी मिला देनेपर जीवकी अवस्थाओंकी संख्या तिरपन हो जाती है। इन तिरपन भावोंकी आगममें जो गणना की गयी है वह इस प्रकार है कि सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रके रूपमें दो भाव औपशमिक हैं। केवलज्ञान, केवलदर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य तथा सम्यग्दर्शन और सम्यक्-चारित्र ये नौ भाव क्षायिक रूप हैं। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्ययके रूपमें चार सम्यग्ज्ञान, कुमति, कुश्रुत और कु-अवधिके रूपमें तीन मिथ्याज्ञान, चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन और अवधिदर्शनके रूपमें तीन दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्यके रूपमें पाँच लब्धियाँ (शक्तियाँ) तथा सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र और संयमासंयम ये अठारह भाव क्षायोपशमिक रूप हैं। नरक, तिर्यच, मनुष्य और देवके रूपमें चार गतियाँ, क्रोध मान, माया और लोभके रूपमें चार कषाय, पुल्लिग, स्त्रीलिग और नपुंसकलिगके रूपमें तीन लिग, पर-पदार्थोंमें अहंकार और ममकाररूप मिथ्यादर्शन, ज्ञानविशेषका अभावरूप अज्ञान, चारित्रका अभावरूप असंयतत्व, संसारी अवस्थारूप असिद्धत्व तथा कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्लके रूपमें छह लेश्यायें ये इक्कीस भाव औदयिक रूप हैं। इसी प्रकार जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन भाव पारिणामिक रूप हैं।^१

आगममें आठ कर्मोंके भेदोंकी गणना इस प्रकार की गयी है कि ज्ञानावरणकर्म मतिज्ञानावरण आदिके रूपमें पाँच प्रकारका, दर्शनावरणकर्म चक्षुर्दर्शनावरण आदिके रूपमें नौ प्रकारका, वेदनीयकर्म साता तथा असाताके रूपमें दो प्रकारका, मोहनीयकर्म मिथ्यात्व आदिके रूपमें अट्ठाईस प्रकारका, आयुःकर्म नरकायु आदिके रूपमें चार प्रकारका, नामकर्म गति, जाति आदिके रूपमें तेरानवे प्रकारका, गोत्रकर्म उच्च तथा नीच के रूपमें दो प्रकारका और अन्तरायकर्म दानान्तराय आदिके रूपमें पाँच प्रकारका होता है।^२

आगममें यह भी बतलाया गया है कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चारों कर्म जीवके यथायोग्य अनुजीवी गुणोंका घात करनेमें समर्थ होनेके कारण घाती^३ कहलाते हैं तथा वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र ये चारों कर्म जीवके अनुजीवी गुणोंका घात करनेमें असमर्थ होनेके कारण अघाती^४ कहलाते हैं। इतना ही नहीं, आगममें यह भी बतला दिया गया है कि संपूर्ण घाती कर्म तथा अघाती कर्मोंकी कुछ प्रकृतियाँ मिलकर पाप प्रकृतियाँ कहलाती हैं^५ और अघाती कर्मोंकी शेष प्रकृतियाँ पुण्य प्रकृतियाँ कहलाती हैं।^६

ऊपर जो जीवके तिरपन भावोंकी गणना की गयी है उनमेंसे तीन पारिणामिक भावोंको छोड़कर शेष पचास भाव उक्त कर्मोंमेंसे उस कर्मके यथायोग्य उदय, उपशम, क्षय या क्षयोपशमके आधारपर उत्पन्न होनेके कारण ही पूर्वोक्त प्रकार क्रमशः औदयिक, औपशमिक, क्षायिक या क्षायोपशमिक नामसे पुकारे जाते हैं। इन औदयिकादिरूप पचास भावोंमेंसे मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्ररूप जो औदयिक भाव हैं वे भाव संसारके

१. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय २ सूत्र २, ३, ४, ५, ६, ७।

२. वही, अध्याय ८ सूत्र, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १३। गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा ३८।

३. पंचाध्यायी, अध्याय २ श्लोक ९९८।

४. वही, अध्याय, २, श्लोक ९९९।

५. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा ४३, ४४।

६. वही, गाथा ४१, ४२।

कारण हैं^१ तथा सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र्यरूप जो औपशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिक भाव हैं वे भाव मोक्षके कारण हैं।^२ यद्यपि मिथ्याज्ञानरूप क्षायोपशमिक भावको भी बन्धका कारण तथा सम्यग्ज्ञानरूप क्षायोपशमिक और क्षायिकभावको भी मोक्षका कारण आगममें स्वीकार किया गया है। परन्तु इसके विषयमें यह बात ध्यान देने योग्य है कि ज्ञानकी संसारकारणता और मोक्षकारणता यथायोग्य मोहनीयकर्मके उदय, उपशम, क्षय व क्षयोपशमसे सम्बद्ध होकर ही मानी गयी है। यही कारण है कि चतुर्दश गुणस्थान-व्यवस्थामें केवल मोहनीयकर्मको ही उदय, उपशम, क्षय तथा क्षयोपशमके आधारपर आगममें प्रमुखता दी गयी है।^३

उक्त कथनका विस्तार यह है कि उक्त औदयिक भाव मोहनीयकर्मके उदयसे उत्पन्न होनेके कारण जीवके संसारके कारण होते हैं। औपशमिक भाव मोहनीयकर्मके उपशमसे उत्पन्न होनेके कारण यद्यपि संसारके कारण नहीं होते, परन्तु ये जीवमें अन्तर्मुहूर्त तक ही ठहरते हैं अर्थात् मुहूर्तके अन्दर-अन्दर ही ये नष्ट हो जाते हैं, इसलिए मोक्षके कारण होकर भी इनसे जीवको साक्षात् मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती है। इन्हें छोड़कर मोहनीयकर्मकी उस-उस प्रकृतिके सर्वथा क्षयसे उत्पन्न होनेवाले क्षायिक भाव ही जीवकी मोक्ष-प्राप्तिमें साक्षात् कारण हुआ करते हैं। अर्थात् उक्त क्षायिक भावोंको प्राप्त कर लेनेपर जीव नियमसे मुक्तिको प्राप्त करता है। कारण कि ये भाव जीवको एक बार प्राप्त हो जानेपर फिर कभी नष्ट नहीं होते हैं। क्षायोपशमिक भावोंके विषयमें व्यवस्था यह है कि इनमें सर्वघाती प्रकृतिके वर्तमान समयमें उदय आनेवाले निषेकोंका उदयाभावी क्षय और उसी सर्वघाती प्रकृतिके आगामी कालमें उदय आनेवाले निषेकोंका सदवस्थारूप उपशम तथा देशघाती प्रकृतिका उदय विद्यमान रहा करता है अतः इनमें देशघाती प्रकृतिका उदय कार्यकारी रहनेके कारण तो संसारकी कारणता व सर्वघाती प्रकृतिका उदयाभावीक्षय तथा सदवस्थारूप उपशम भी कार्यकारी रहनेके कारण मोक्षकी कारणता इस तरह दोनों ही प्रकारकी कारणतायें विद्यमान रहा करती हैं। यही कारण है कि आगममें यह बात स्पष्ट कर दी गयी है कि जीवमें जिस कालमें जितना दर्शन, ज्ञान और चारित्र्यका अंश प्रकट रहता है उतने रूपमें उसके कर्मबन्ध नहीं होता है और उसी कालमें जितना दर्शन, ज्ञान और चारित्र्यका अपना-अपना विरोधी रागांश प्रकट रहता है उतने रूपमें उसका कर्मबन्ध भी होता है।^४

इस प्रकार क्षायोपशमिक भावोंमें यद्यपि संसार और मुक्ति उभयकी कारणता विद्यमान रहा करती है फिर भी उन्हें आगममें मोक्षका ही कारण बतलाया गया है, संसारका नहीं।^५ यह बात हम पूर्वमें भी कह चुके हैं। इसको यों भी स्पष्ट किया जा सकता है कि आगममें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्यको औपशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिकका भेद न करके सामान्यरूपसे ही मोक्षका कारण प्रतिपादित किया गया है^६ व औदयिक भावरूप मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र्यको संसारका कारण प्रतिपादित किया गया है।^७ इतनी बात अवश्य आगममें स्पष्ट कर दी गयी है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्यरूप मोक्षमार्गपर आरूढ़ हुआ जीव यदि शुद्धोपयोगकी भूमिकाको प्राप्त करके क्षपकश्रेणीपर आरूढ़ हो जावे तो वह मोक्ष सुखको ही प्राप्त करता है।^८ लेकिन यदि कोई जीव शुद्धोपयोगकी भूमिकाको प्राप्त होकर भी क्षपक-

१. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक, ३। २. तत्त्वार्थसूत्र, १-१।

३. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ८, ९, १०, ११, १२, १३, १४।

४. पुरुषार्थसिद्धयुगल, श्लोक २१२, २१३, २१४।

५. वही, श्लोक २११।

६. तत्त्वार्थसूत्र, १-१।

७-८. रत्नकरण्डकश्रावकाचार श्लोक २. ३।

श्रेणीपर आरूढ़ न होकर उपशमश्रेणीपर आरूढ़ हुआ अथवा शुद्धोपयोगकी भूमिकाको प्राप्त न होकर शुभोपयोगकी भूमिकामें ही प्रवर्तमान रहा और ऐसी हालतमें उसका यदि मरण हो गया तो वह जीव स्वर्ग-सुखको प्राप्त करता हुआ^१ परंपरया मोक्षसुखको प्राप्त करता है।^२ इसके साथ ही आगममें यह बात भी स्पष्ट कर दी गयी है कि यदि कोई जीव अपनेको भूलकर स्वर्गसुखमें रम जाय तो फिर इसमें भी संदेह नहीं कि वह मारीचकी तरह यथायोग्य अनेक भवों तक सांसारिक विभिन्न प्रकारकी कुयोनियोंमें भी भ्रमण करता है।^३

इस कथनसे इतनी बात स्थिर हो जाती है कि अशुभोपयोग और अशुभ प्रवृत्तिरूप मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्या-चारित्र संसारके कारण हैं, शुभोपयोग और शुभ प्रवृत्तिरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वर्गादिसुखपूर्वक परंपरया मोक्षके कारण हैं। तथा शुद्धोपयोग व शुद्ध प्रवृत्तिरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र साक्षात् मोक्षके कारण हैं।

इस प्रकार करणानुयोगके आधारपर किए गए उपर्युक्त विवेचन और इसके पूर्व चरणानुयोगके आधारपर किए गए विवेचनसे हमारा प्रयोजन यह है कि चरणानुयोगकी दृष्टिसे जो निश्चय और व्यवहार-रूप मोक्षमार्गद्वयका अथवा निश्चयसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और व्यवहार सम्यग्ज्ञान तथा निश्चयसम्यक्चारित्र और व्यवहारसम्यक्चारित्रका विवेचन किया गया है एवं करणानुयोगकी दृष्टिसे जो औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन, क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्ज्ञान तथा औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यक्चारित्रका विवेचन किया गया है। इन दोनों प्रकारके विवेचनोंका यदि समन्वय किया जाय तो यह निर्णीत हो जाता है कि जिसे चरणानुयोगकी दृष्टिसे निश्चय सम्यग्दर्शन कहा गया है उसे करणानुयोगकी दृष्टिसे औपशमिक व क्षायिक सम्यग्दर्शन समझना चाहिये तथा जिसे चरणानुयोगकी दृष्टिसे व्यवहारसम्यग्दर्शन कहा गया है उसे करणानुयोगकी दृष्टिसे क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन समझना चाहिये। इसी प्रकार जिसे चरणानुयोगकी दृष्टिसे निश्चयसम्यग्ज्ञान कहा गया है उसे करणानुयोगकी दृष्टिसे क्षायिक-सम्यग्ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान समझना चाहिये और जिसे चरणानुयोगकी दृष्टिसे व्यवहारसम्यग्ज्ञान कहा गया है उसे करणानुयोगकी दृष्टिसे क्षायोपशमिक सम्यग्ज्ञान समझना चाहिये और इसी प्रकार जिसे चरणानुयोगकी दृष्टिसे निश्चयसम्यक्चारित्र यथाख्यातचारित्र या वीतरागचारित्र कहा गया है उसे करणानुयोगकी दृष्टिसे औपशमिक व क्षायिक सम्यक्चारित्र समझना चाहिये और जिसे चरणानुयोगकी दृष्टिसे अणुव्रत, महाव्रत आदिरूप व्यवहारसम्यक्चारित्र, सरागचारित्र या सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसांपरायणचारित्र कहा गया है उसे करणानुयोगकी दृष्टिसे क्षायोपशमिक चारित्र समझना चाहिये।

उपर्युक्त कथन हमें इस निष्कर्षपर पहुँचा देता है कि व्यवहार और निश्चय दोनों ही प्रकारके मोक्ष-मार्गका प्रारम्भ चतुर्थ गुणस्थानसे ही होता है, चतुर्थ गुणस्थानसे पूर्व किसी भी तरहके मोक्षमार्गका प्रारम्भ नहीं होता है, ऐसा जानना चाहिये। आगे इसी बातको स्पष्ट किया जा रहा है।

सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके विषयमें यह बात कही गयी है कि वह दर्शनमोहकी मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृतिरूप तीन तथा चारित्रमोहकी अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभरूप चार इस

१. प्रवचनसार, गाथा ११।

२. छहढाला, ४।१४।

३. वही, गाथा १२।

तरह सात प्रकृतियोंका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होनेपर ही उत्पन्न हुआ करता है। अर्थात् आगममें कहा गया है कि उक्त सात प्रकृतियोंके उपशमसे औपशमिक सम्यक्त्व^१ और उक्त सात ही प्रकृतियोंके क्षयसे^२ क्षायिकसम्यक्त्व उत्पन्न होता है। इसी प्रकार उक्त सात प्रकृतियोंमेंसे ही मिथ्यात्व व सम्यक्मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया ओर लोभ इन छह सर्वघाती प्रकृतियोंके वर्तमान समयमें उदय आने वाले निषेकोंका उदयाभावी क्षय व आगामी बालमें उदय आने वाले निषेकोंका सदवस्थारूप उपशम एवं सम्यक्-प्रकृतिरूप देशघातिप्रकृतिका उदय होनेपर^३ क्षायोपशमिकसम्यक्त्व उत्पन्न होता है।

आगममें यह बात भी कही गयी है कि उक्त औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक तीनों ही प्रकारके सम्यग्दर्शन जीवको क्षायोपशमिक, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करणलब्धि पूर्वक ही उत्पन्न हुआ करते हैं।^४ माथमें इन लब्धियोंके सम्बन्धमें वहीपर यह विशेषता भी बतला दी गयी है कि पाँचों लब्धियोंमेंसे पूर्वकी चार लब्धियाँ तो भव्य तथा अभव्य दोनों ही प्रकारके जीवोंके संभव हैं। परन्तु करणलब्धि ऐसी लब्धि है कि वह भव्य जीवके ही संभव है, अभव्यके नहीं।^५ इसका आशय यह हुआ कि जो भव्य जीव पूर्वकी चार लब्धियोंके साथ-साथ करणलब्धिमें प्रवृत्त होकर उक्त सात प्रकृतियोंकी पूर्वोक्त प्रकार उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशमरूप जैसी स्थिति बना लेता है उसीके अनुरूप वह अपनेमें औपशमिक, क्षायिक अथवा क्षायोपशमिक कोई भी सम्यग्दर्शन उत्पन्न कर लेता है।

इस कथनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक इन तीनों सम्यग्दर्शनोंमेंसे कोई भी सम्यग्दर्शन ऐसा नहीं है जो चतुर्थ गुणस्थानसे पूर्वके किसी भी गुणस्थानमें उत्पन्न हो सकता हो, क्योंकि प्रथम गुणस्थानमें तो सम्यग्दर्शनकी घातक सर्वघाती मिथ्यात्वप्रकृतिका उदय विद्यमान रहता है,^६ द्वितीय गुणस्थानमें सम्यग्दर्शनकी घातक सर्वघाती अनन्तानुबन्धी कषायका उदय विद्यमान रहता है^७ और तृतीय गुणस्थानमें सम्यग्दर्शनकी घातक सर्वघाती सम्यक्मिथ्यात्वप्रकृतिका उदय विद्यमान रहता है।^८ चूँकि यह बात हम पूर्वमें कह चुके हैं कि क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनका ही अपर नाम व्यवहारसम्यग्दर्शन है और औपशमिक तथा क्षायिक इन दोनों सम्यग्दर्शनोंका ही अपर नाम निश्चयसम्यग्दर्शन है। अतः यह बात निर्णीत हो जाती है कि व्यवहार और निश्चय दोनों ही प्रकारके सम्यग्दर्शनोंमेंसे कोई भी सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थानसे पूर्वके किसी भी गुणस्थानमें उत्पन्न नहीं होता है। इतना अवश्य है कि चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर सातवें गुणस्थान तकके जीवोंमें उक्त तीनों प्रकारके सम्यग्दर्शनोंमेंसे कोई भी एक सम्यग्दर्शन संभव है। इसलिये चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर सातवें गुणस्थान तकके जीव या तो क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा व्यवहारसम्यग्दर्शित रह सकते हैं या फिर औपशमिक अथवा क्षायिक सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा निश्चयसम्यग्दर्शित रह सकते हैं। इसके अतिरिक्त यह बात भी ध्यानमें रखना चाहिये कि सातवें गुणस्थानका जो जीव उपशमश्रेणी या क्षपक-श्रेणीपर आरूढ होने के लिए अधःकरण परिणामोंमें प्रवृत्त होता है उसके व्यवहाररूप क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन

१-२. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा २६ पूर्वा० ।

३. वही, गा० २५ का उत्तरार्ध ।

४-५. वही, गाथा ६५० ।

६. वही गाथा १५ ।

७. वही, गाथा १९ ।

८. वही, गाथा २१ ।

न रहकर नियमसे निश्चयरूप औपशमिक या क्षायिक सम्यग्दर्शन ही रहा करता है। इसमें भी इतनी विशेषता है कि उपशमिणीपर आरूढ़ होनेवाले जीवके निश्चयरूप औपशमिक और क्षायिक दोनों सम्यग्दर्शनोंमेंसे कोई एक सम्यग्दर्शन रह सकता है। लेकिन क्षपकश्रेणीपर आरूढ़ होनेवाले जीवके निश्चयरूप क्षायिक सम्यग्दर्शन ही रहता है, औपशमिक सम्यग्दर्शन नहीं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आठवें गुणस्थानसे लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तकके जीव या तो औपशमिकसम्यग्दृष्टिके रूपमें निश्चयसम्यग्दृष्टि रहा करते हैं या फिर क्षायिकसम्यग्दृष्टिके रूपमें निश्चयसम्यग्दृष्टि रहा करते हैं। इन गुणस्थानोंमें रहनेवाला कोई भी जीव कभी भी क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टिके रूपमें व्यवहारसम्यग्दृष्टि नहीं रहता है। इसी प्रकार बारहवें गुणस्थानमें और इससे आगेके गुणस्थानोंमें रहनेवाला कोई भी जीव केवल क्षायिकसम्यग्दृष्टिके रूपमें ही निश्चयसम्यग्दृष्टि रहा करता है।

इसी प्रकार मोक्षमार्गके अंगभूत सम्यग्ज्ञानका प्रारम्भ भी चतुर्थ गुणस्थानसे ही होता है। इसमें भी चतुर्थगुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थान तक तो प्रत्येक जीवमें क्षायोपशमिक सम्यग्ज्ञानके रूपमें व्यवहारसम्यग्ज्ञान ही रहा करता है निश्चयसम्यग्ज्ञान नहीं, तथा इसके आगे तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानोंमें क्षायिकज्ञानके रूपमें निश्चयसम्यग्ज्ञान ही रहा करता है, व्यवहार सम्यग्ज्ञान नहीं। कारण कि तेरहवें गुणस्थानसे पूर्व बारहवें गुणस्थानके अन्त समयमें मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण इन पाँचों ही ज्ञानावरणोंका एक साथ सर्वथा क्षय हो जानेके कारण क्षायोपशमिक ज्ञानोंका तेरहवें गुणस्थानके प्रथम समयमें सर्वथा अभाव हो जाता है। यद्यपि भव्य तथा अभव्यके भेदसे सहित एकेन्द्रियादिक समस्त संसारी जीवोंमें अनादिकालसे मतिज्ञान, श्रुतज्ञानके रूपमें क्षायोपशमिक ज्ञानोंका नियमसे सद्भाव पाया जाता है। परन्तु उन ज्ञानोंमें व्यवहारसम्यग्ज्ञानका रूप तब तक नहीं आता जब तक जीवमें सम्यग्दर्शनका प्रादुर्भाव नहीं हो जाता^१ है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि एक तो संज्ञी-पंचेन्द्रिय जीवका क्षायोपशमिक ज्ञान ही व्यवहारसम्यग्ज्ञानका रूप धारण कर सकता है, एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तकके जीवोंका क्षायोपशमिक ज्ञान कदापि व्यवहारसम्यग्ज्ञानका रूप नहीं धारण करता है। दूसरे, भव्यजीवोंका क्षायोपशमिक ज्ञान ही व्यवहारसम्यग्ज्ञानका रूप धारण कर सकता है, अभव्य जीवोंका नहीं। और तीसरे संज्ञीपंचेन्द्रिय भव्य जीवोंका क्षायोपशमिक ज्ञान भी सम्यग्दर्शनकी तरह चतुर्थगुणस्थानमें ही व्यवहारसम्यग्ज्ञानका रूप धारण करता है, इससे पूर्वके गुणस्थानोंमें नहीं, क्योंकि वह सम्यग्दर्शनके सद्भावमें सम्यग्ज्ञानरूपताको प्राप्त होता है।

मोक्षमार्गके अंगभूत व्यवहार तथा निश्चय दोनों ही प्रकारके सम्यक्चारित्र्यके विषयमें आगमकी व्यवस्था यह है कि एकदेश क्षायोपशमिक सम्यक्चारित्र्यके रूपमें व्यवहारसम्यक्चारित्र्यका प्रारम्भ पंचम गुणस्थानसे ही होता^२ है, इससे पूर्वके चारों गुणस्थानोंमें तो असंयत भाव ही रहा करता^३ है। कारण कि इन चारों गुणस्थानोंमें अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदयका अभाव नहीं होता है। यही क्षायोपशमिकरूपताको प्राप्त व्यवहारसम्यक्-चारित्र्य संज्वलनकषायके उदयके सद्भाव तथा प्रत्याख्यानावरणकषायके उदयके अभावमें षष्ठगुणस्थानमें सर्वदेशात्मक महाव्रतका रूप धारण कर लेता^४ है तथा आगे संज्वलन कषाय व

१. छहडाला, ४-१।

२-३. तदियकसायुदयेण य विरदाविरदो गुणो हवे जुगवं।

विदियकसायुदयेण य असंजमो होदि णियमेण ॥ गो० जी० ४६८।

४. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ४६५।

नोकषाय धीरे-धीरे कुश होकर जब दशवें गुणस्थानमें केवल सूक्ष्म लोभका उदय कार्यकारी रह जाता है तब वही क्षायोपशमिक-रूपताको प्राप्त व्यवहारसम्यक्चारित्र सूक्ष्मसांपरायचारित्रके रूपमें अपनी चरम सीमामें पहुँच जाता है^१। और इस तरह दशवें गुणस्थानके अन्तमें समस्त कषायोंका यदि उपशम होता है तो ग्यारहवें गुणस्थानके प्रारम्भमें औपशमिकचारित्रके रूपमें निश्चयसम्यक्चारित्र प्रकट हो जाता^२ है तथा दशवें गुणस्थानके अन्तमें यदि समस्त कषायोंका क्षय होता है तो १२वें गुणस्थानके प्रारम्भमें क्षायिकचारित्रके रूपमें निश्चयसम्यक्चारित्र प्रकट हो जाता^३ है और यह क्षायिकचारित्र रूप निश्चयचारित्र १३वें तथा १४ वें गुणस्थानोंमें भी बना रहता^४ है। जीवको जब औपशमिक अथवा क्षायिक रूपमें निश्चयचारित्रकी प्राप्ति हो जाती है तब क्षायोपशमिकरूपताको प्राप्त व्यवहारसम्यक्चारित्रकी समाप्ति नियमसे हो जाती है। कारण कि जीवमें प्रत्येक कर्मका यथासम्भव उदय, उपशम, क्षय अथवा क्षायोपशममेंसे एक कालमें एक ही अवस्था रह सकती है, दो आदि अवस्थायें कभी एक साथ नहीं होतीं। इसलिए एक कर्मके उदयादिककी निमित्तताके आधारपर होनेवाले औदयिकादि भावोंका सद्भाव भी जीवमें एक साथ नहीं रह सकता है। यहाँ इतना विशेष समझना चाहिए कि औपशमिकचारित्ररूप निश्चयसम्यक्-चारित्र केवल ११ वें गुणस्थानमें ही रहता है, कारण कि जीव अस्तर्मुहूर्तके अल्पकालमें ही इससे पतित होकर यथायोग्य कषायका उदय हो जानेसे फिर क्षायोपशमिकचारित्ररूप व्यवहार चारित्रमें आ जाता है। इस तरह क्षायिक चारित्ररूप निश्चयचारित्र ही ऐसा है जो १२वें में उत्पन्न होकर १३वें और १४वें गुणस्थानोंमें भी अपना सद्भाव कायम रखता है।

अब यह प्रश्न हो सकता है कि जब जीवको पूर्वोक्त प्रकार अधिक-से-अधिक सप्तम गुणस्थानमें क्षायिकसम्यग्दर्शनरूप निश्चयसम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो जाती है और १२वें गुणस्थानके प्रारम्भमें क्षायिक-चारित्ररूप निश्चयसम्यग्चारित्रकी प्राप्ति हो जाती है तो फिर १२वें गुणस्थानमें ही जीव मुक्त क्यों नहीं हो जाता है ? इसका समाधान निम्न प्रकार है—

१२ वें गुणस्थानमें क्षायिकचारित्रकी उपलब्धि हो जानेपर भी जीवके मुक्त न होनेका एक कारण तो यह है कि उस समय तक उसे ज्ञानावरणकर्मका पूर्णतः क्षय न होनेसे क्षायिकज्ञानरूप निश्चयसम्यग्-ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो पाती है। दूसरा कारण यह है कि १२वें गुणस्थानवर्ती क्षायिकचारित्ररूप निश्चय-चारित्रमें जीव यद्यपि भावात्मक चारित्रके रूपमें पूर्ण स्वावलम्बी हो जाता है परन्तु तब भी उसमें परावलम्बनपूर्ण योगात्मक क्रिया तो होती ही रहती है क्योंकि उसके भी मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और काय-वर्गणाके निमित्तसे प्रदेशपरिस्पन्दन होता है। अतः उसके स्वावलम्बनके रूपमें निश्चयचारित्रकी पूर्णता नहीं हो पाती है। यह योगात्मक क्रिया केवलज्ञानरूप क्षायिकनिश्चयसम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति हो जानेके अनन्तर भी जीवके हुआ करती है। अतः केवलज्ञान प्राप्त हो जाने पर तेरहवें गुणस्थानके प्रथम समयमें जीव मुक्त नहीं हो पाता है। इसी प्रकार केवलज्ञानकी प्राप्तिके अनन्तर जब जीवकी योगात्मक क्रिया भी समाप्त हो जाती है तब जीवको मुक्ति प्राप्त नहीं होती है। इसका कारण यह है कि जीव द्रव्यात्मकदृष्टिसे उस समय भी परावलम्बी रहा करता है क्योंकि अघाती कर्मोंका उदय उस समय भी उसे प्रभावित किये रहता है। इस तरह यह निर्णीत होता है कि १४वें गुणस्थानके अन्त समयमें अघाती कर्मोंका भी पूर्णतया क्षय हो जानेसे जब जीव द्रव्यात्मकदृष्टिसे भी पूर्ण स्वावलम्बी हो जाता है तभी उसके निश्चयसम्यक्चारित्रकी

१, २, ३, ४ गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ४७३, ४६७, ४७४।

५. तत्त्वार्थश्लोकवा० पृ० ७०, पंक्ति ९।

पूर्णता समझनी चाहिए। इस तरह मोक्षमार्गकी पूर्णता १४वें गुणस्थानके अन्त समयमें होनेसे उससे पूर्व जीव मुक्ति नहीं पा सकता है दूसरे उस समय निश्चयचारित्रकी पूर्णता हो जानेसे मोक्षमार्गकी भी पूर्णता हो जानेपर यह जीव फिर एक क्षणके लिए भी संसारमें नहीं ठहरता है।^१

धायोपशमिक सम्यग्दर्शन, धायोपशमिक सम्यग्ज्ञान और धायोपशमिक सम्यक्चारित्रको व्यवहार-मोक्षमार्ग या व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्र इसलिए कहा जाता है कि इनमें मोक्षकी साक्षात् कारणता नहीं है, परंपरया अर्थात् निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चय-सम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्-चारित्रका कारण होकर ही मोक्षकी कारणता विद्यमान है। जैसा कि पूर्वमें हम विस्तारसे स्पष्ट कर चुके हैं। इसी प्रकार धायिकसम्यग्दर्शन, धायिकसम्यग्ज्ञान और धायिक सम्यक्चारित्रको निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्-चारित्र इसलिए कहा जाता है कि इनमें मोक्षकी साक्षात् कारणता रहा करती है। यह बात भी हम पूर्वमें विस्तारसे स्पष्ट कर चुके हैं।

धायोपशमिक सम्यग्दर्शन, धायोपशमिक सम्यग्ज्ञान और धायोपशमिक सम्यक्चारित्रको व्यवहार मोक्ष-मार्ग या व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्-चारित्र नामसे पुकारनेमें तथा औपशमिक व धायिक सम्यग्दर्शन, धायिक सम्यग्ज्ञान और औपशमिक व धायिक-चारित्रको निश्चय मोक्षमार्ग या निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्-चारित्र नामसे पुकारनेमें प्रकारान्तरसे यह युक्ति भी दी जा सकती है कि आगममें स्वाश्रितपनेको वस्तुका निश्चय धर्म व पराश्रित पनेको वस्तुका व्यवहार धर्म माना गया है।^२ इस तरह औपशमिक व धायिक सम्यग्दर्शन, धायिक सम्यग्ज्ञान और औप-शमिक व धायिक सम्यक्चारित्र ये सभी चूँकि यथायोग्य अपने-अपने प्रतिपक्षी कर्मोंके सर्वथा उपशम या सर्वथा क्षय हो जानेपर ही जीवमें उद्भूत होते हैं। अतः पूर्णरूपसे स्वाश्रयता पायी जानेके कारण इन्हें निश्चय नामसे पुकारना योग्य है तथा धायोपशमिक सम्यग्दर्शन, धायोपशमिक सम्यग्ज्ञान और धायोपशमिक सम्यक्-चारित्र ये सभी चूँकि अपने-अपने प्रतिपक्षी कर्मोंके सर्वघाती अंशोंके यथायोग्य उदयाभावी क्षय तथा सद्बस्वरूप उपशम एवं देशघाती अंशोंके उदयके सद्भावमें ही जीवमें उद्भूत होते हैं, अतः पूर्ण रूपसे स्वाश्रयता नहीं पायी जाने अथवा कथंचित् पराश्रयता पायी जानेके कारण इन्हें व्यवहारनामसे पुकारना योग्य है।

यहाँ पर कोई कह सकता है कि द्रव्यलिंग और भावलिंगके रूपमें भी दर्शन, ज्ञान और चारित्रका वर्णन आगममें पाया जाता है। इनमेंसे तद्रूपताका अर्थ भाव-लिंग होता है और अतद्रूपताका अर्थ द्रव्यलिंग होता है। इस तरह जो जीव यथायोग्य मोहनीयकर्मका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम न रहनेके कारण दर्शन, ज्ञान और चारित्रकी भावरूपताको प्राप्त न होते हुए भी तद्रूपके समान बाह्याचरण करते हैं उनमें तो द्रव्यलिंगके रूपमें ही दर्शन, ज्ञान और चारित्र रहा करते हैं, लेकिन जो जीव यथायोग्य मोहनीय कर्मका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम हो जानेके कारण दर्शन, ज्ञान और चारित्रकी भावरूपताको प्राप्त होकर तदनुकूल बाह्याचरण करते हैं उनमें भावलिंगके रूपमें दर्शन, ज्ञान और चारित्र रहा करते हैं। इनमेंसे जो जीव द्रव्यलिंगके रूपमें दर्शन, ज्ञान और चारित्रके धारक हैं, वे व्यवहार मोक्ष-मार्गी और जो जीव

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृष्ठ ७१, पंक्ति १५। तत्त्वा० श्लो० वा०, पृष्ठ ७१, पंक्ति २७।

तत्त्वार्थश्लोक वा०, पृष्ठ ७१, वार्तिक ९३, ९४।

२. आत्माश्रितो निश्चयनयः, पराश्रितो व्यवहारनयः। —समयसार, गाथा ५७२ की आत्मख्याति टीका।

भारालिङ्गके रूपमें दर्शन, ज्ञान और चारित्रके धारक हैं वे निश्चयमोक्षमार्गी आगममें स्वीकार किये गये हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जो क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि, क्षायोपशमिक सम्यक्ज्ञानी और क्षायोपशमिक सम्यक्-चारित्री जीव हैं उन्हें भी निश्चयमोक्षमार्गी या निश्चयसम्यग्दृष्टि, निश्चयसम्यग्ज्ञानी और निश्चय-सम्यक्-चारित्री ही कहना उचित है, उन्हें व्यवहारमोक्षमार्गी या व्यवहारसम्यग्दृष्टि, व्यवहारसम्यग्ज्ञानी और व्यवहारसम्यक्-चारित्री कहना उचित नहीं है।

उपर्युक्त समस्याका समाधान यह है कि व्यवहार और निश्चय इन दोनों शब्दोंके प्रकरणानुसार विविध अर्थ आगममें स्वीकार किये गये हैं। जैसे कहीं भेदरूपता व्यवहार है और अभेदरूपता निश्चय है कहीं नानारूपता व्यवहार है और एकरूपता निश्चय है, कहीं पर्यायरूपता व्यवहार है और द्रव्यरूपता निश्चय है, कहीं विशेषरूपता व्यवहार है और सामान्यरूपता निश्चय है कहीं व्यतिरेकरूपता व्यवहार है और अन्वयरूपता निश्चय है, कहीं विभावरूपता व्यवहार है, और स्वभावरूपता निश्चय है, कहीं अभावरूपता व्यवहार है और भावरूपता निश्चय है, कहीं अनित्यरूपता व्यवहार है और नित्यरूपता निश्चय है, कहीं असद्व्यवहार व्यवहार है और सद्रूपता निश्चय है, कहीं विस्ताररूपता व्यवहार है और संक्षेप या संग्रहरूपता निश्चय है, कहीं पराश्रय-रूपता व्यवहार है और स्वाश्रय-रूपता निश्चय है, कहीं विधेयरूपता, साधनरूपता व कारणरूपता व्यवहार है और उद्देश्यरूपता, साध्यरूपता व कार्यरूपता निश्चय है, कहीं परम्परारूपता व्यवहार है और साक्षात्-रूपता निश्चय है, कहीं निमित्तरूपता व्यवहार है और उपादानरूपता निश्चय है, कहीं बहिरंग-रूपता व्यवहार है और अंतरंग-रूपता निश्चय है, कहीं उपचार, अभूतार्थ, असद्भूत-रूपता व्यवहार है और परमार्थ, भूतार्थ, सद्भूतरूपता निश्चय है। इन या इसी प्रकारके और भी व्यवहार और निश्चय शब्दके संभव अर्थोंमेंसे जहाँ किस प्रकारका अर्थ ग्रहण करनेसे प्रकरणकी सुसंगति होती हो वहाँ पर उसी प्रकारका अर्थ व्यवहार और निश्चय शब्दोंका ग्रहण कर लेना चाहिये। इस प्रकार द्रव्यालिङ्गके रूपमें जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र किसी जीवमें रहा करते हैं उन्हें बाह्यरूपताके आधारपर व्यवहारदर्शन, ज्ञान और चारित्र कहना तथा भारालिङ्गके रूपमें जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र किसी जीवमें रहा करते हैं उन्हें अन्तरंगरूपताके आधारपर निश्चयदर्शन, ज्ञान और चारित्र कहना भी संगत है एवं क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन, क्षायोपशमिक सम्यक्-ज्ञान और क्षायोपशमिक चारित्रको पराश्रयताके आधारपर व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहार-सम्यक्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्र नामोंसे पुकारना तथा औपशमिक और क्षायिक सम्यग्दर्शन, क्षायिक ज्ञान व औपशमिक और क्षायिक चारित्रको स्वाश्रयताके आधारपर निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यक्ज्ञान और निश्चयसम्यक्चारित्र नामसे पुकारना भी संगत है।

जैनागममें जो नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके रूपमें चार निक्षेपोंका वर्णन पाया जाता है उनमेंसे नाम, स्थापना और द्रव्य इन तीनको तो व्यवहारनिक्षेपरूप जानना चाहिये तथा भावको निश्चयनिक्षेपरूप जानना चाहिये। जैसे वास्तवमें अर्थात् निश्चयरूपमें तो वही जीव जैनी कहा जा सकता है जो भावसे जैनी हो अर्थात् सम्यग्दृष्टि हो। लेकिन जो जीव सम्यग्दृष्टि बननेकी क्षमताको प्राप्त है उस जीवको भी द्रव्य-रूपसे व्यवहारमें जैनी कहा जा सकता है। इसी प्रकार जो जीव न तो सम्यग्दृष्टि है, न सम्यग्दृष्टि बननेकी क्षमताको प्राप्त है लेकिन चूँकि जैन कुलमें उत्पन्न हुआ है अतः उसे भी व्यवहारमें नामरूपसे जैनी कहा जाता है तथा जो जीव न तो सम्यग्दृष्टि है, न उसमें सम्यग्दृष्टि बननेकी क्षमताको प्राप्त है लेकिन गृहस्थके छह^१ आवश्यक कृत्योंको अवश्य कर रहा है उसे स्थापनारूपसे व्यवहारमें जैनी माना जाता है। इस तरह

१. देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।

दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने ॥—यशस्ति लक्ष्मण, आश्वास ८, प्रकीर्ण विधिकल्प।

सर्वत्र हमें व्यवहार और निश्चयकी प्रक्रियाको सुसंगत कर लेना चाहिये। श्रद्धेय पंडितप्रवर आशाधरजीने सागारधर्माभूत (अध्याय २ श्लोक ५४) में नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके रूपमें विभक्त सभी जैनोंकी जो तरतमभावसे महत्ता बतलायी है उससे व्यवहारकी महत्ता प्रस्फुटित होती है।

मैं समझता हूँ कि अब तकके विवेचनसे आगम द्वारा स्वीकृत निश्चय और व्यवहार दोनों मोक्ष-मार्गीकी निर्विवाद स्थिति एवं सार्थकता अच्छी तरह सिद्ध हो जाती है।

सम्यग्दृष्टिका स्वभाव

‘दिव्य ध्वनि’ वर्ष २, अंक १२ में ‘सम्यग्दृष्टिका स्वभाव’ शीर्षकसे आगमप्रमाणके आधार किसी व्यक्तिके विचार मुद्रित हैं। व्यक्तिज्ञानकी कमीके कारण आगमका कैसा अनर्थ करता है, उसका परिचय इससे प्राप्त हो जाता है। मैं यहाँ उसीका उदाहरण प्रस्तुत कर रहा हूँ—

कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य चितो वेदयितृत्ववत् ।

अज्ञानादेव कर्तायं तदभावादकारकः ॥—समयसार कलश १९४ ।

इसका अर्थ वहाँ पर यह मुद्रित है—

“जैसे इस चैतन्यमूर्ति आत्माका स्वभाव परद्रव्यके भोगनेका नहीं है, उसी प्रकार इसका स्वभाव परके कर्तापनेका भी नहीं है। अज्ञानके कारण यह जीव अपने आपको परका कर्ता भोक्ता मानता है। जब यह अज्ञान दूर हो जाता है तब यह अपनेको परका कर्ता-भोक्ता नहीं मानता है।”

इसका यथावत् अभिप्राय तो एक विस्तृत लेख द्वारा हो प्रकट किया जा सकेगा। पर मैं इतना ही यहाँ संकेत कर देना चाहता हूँ कि उक्त मुद्रित अर्थ भ्रमपूर्ण है। यथावत् अर्थ निम्नलिखित होना चाहिए—

“कर्तृत्व अर्थात् राग-द्वेष और मोहरूप परिणमन होना तथा पुद्गलकर्मोंसे बद्ध होना जीवका स्वभाव नहीं है। जिस प्रकार कर्मोंके फलकों भोगना अर्थात् कर्मोदयनिमित्तक राग-द्वेष-मोहादिरूप अपनी परिणतियोंका अनुभव करना यानी सुखी-दुखी होना जीवका स्वभाव नहीं है, क्योंकि जब तक जीवमें अज्ञान अर्थात् कर्मोदयनिमित्तक राग-द्वेष और मोहरूप परिणमन हो रहा है, तब तक वह कर्ता अर्थात् उपादानरूपसे राग-द्वेष और मोह आदि अपनी परिणतियोंका व निमित्तरूपसे पौद्गलिक कर्मोंके बन्धका कर्ता हो रहा है। इस तरह यदि जीवमें होनेवाली राग-द्वेष और मोहरूप अज्ञानपरिणतिका अभाव हो, जावे तो फिर न तो उसके भविष्यमें राग-द्वेष तथा मोहरूप भावोंका कर्तृत्व रहेगा और जब यह कर्तृत्व नहीं रहेगा तो वह पौद्गलिक कर्मोंका बन्ध भी नहीं करेगा।”

मुद्रित अर्थमें जो ‘मानता है’ ऐसा अर्थ निक्षिप्त किया गया है, इससे यह प्रकट होता है कि अज्ञानसे जीव अपनेको कर्ता केवल मान रहा है, है नहीं। जबकि यथावत् अर्थ यह है कि अज्ञानसे कर्ता है, केवल कर्तापन अपनेमें मान नहीं रहा है। यदि मानने रूप अर्थको सही माना जायगा, तो फिर यह भी मानना होगा कि जीव स्वभावसे संसारी नहीं है, केवल अज्ञानसे वह अपनेको संसारी मान रहा है। जबकि जीव ऐसा ही है, वह अपनेको केवल संसारी मान नहीं रहा है। उक्त पद्यमें अज्ञानका अर्थ भी ज्ञानका राग-द्वेष-मोह रूप परिणमन अर्थात् विकृत परिणमन ही विवक्षित है, असत्य जानने रूप स्थिति अथवा ज्ञानका अभाव विवक्षित नहीं है।

